Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. VI, Issue XII, October-2013, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

स्वतन्त्रता पूर्ववर्तों हिन्दी साहित्य – नारी पात्रों के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. VI, Issue XII, October-2013, ISSN 2230-7540

स्वतन्त्रता पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य – नारी पात्रों के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व

Dr. Deep Chand

Assst Professar, Babu Anant Ram Janta College, Kaul

---------------------------♦-----------------------------

साहित्य का संबल निर्विवादतः समाज ही है और सामाजिक यथार्थ से जुड़ा साहित्य अत्यंत प्रामाणिक, प्रसंगिक और सजीव होता है। ऐसे साहित्य सर्जन के लिए साहित्यकार में पूर्णतः सामाजिक और साहित्यक प्रतिबध्दतायें अवश्य होनी चाहिये। कहना न होगा कि साहित्यकार का कर्तव्य मात्र सामाजिक चित्रण तक ही सीमित नहीं है, प्रस्युत उसे अपनी लेखनी के द्वारा समाज का समुचित मार्ग–निर्देशित ही करना है। यही साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता है। परिवर्तन एक अनिवार्य प्राकृतिक नियन होने के कारण वह समाज में भी घटित होता रहता है, जो सामाजिकों को विचाराभिव्यक्ति, जीवनशैली, परम्पराओं, नैतिकमूल्यों आदि के माध्यम प्रकट होता रहता है। अतः इन सब के प्रति साहित्यकार की दृष्टि सजग और सतर्क होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही एक साहित्यकार स्वंय भटक जाने अथवा पाठक वर्ग को भटकाने के खतरे से दूर रह सकता है।

जिस प्रकार परिवर्तन को एक अनिवार्य नियम माना गया है, उसी प्रकार संघर्ष भी जो अपने किसी–न–किसी रूप में जीवन की आरम्भिक बिन्दु से लेकर अब तक मानव के साथ जुड़ा चला आ रहा है। ध्यातव्य है कि हम जिसे परिवर्तन की संज्ञा दे रहे हैं, वह अधिकांश संदर्भों में उसी संघर्ष के पर्यवसान के रूप में प्रकट होता आया है। आरम्भ में अपने अस्तित्व को स्थायी बनाने के लिए ''व्यक्ति'' प्रकृति से संघर्षरत रहा, तो आज उसे अपनी उसी अस्मिता के लिए कभी अपनी ही जाति से, तो कभी समाज से. . . और कभी स्वंय से संघर्ष करना पड़ रहा है। रूप आधार पर बाह्य और अंतः में विभाजित यह संघर्ष इतनी सामाजिक व्याप्ति प्राप्त कर चुका है कि संप्रति कदाचित कोई ऐसा सामाजिक प्राणि हो, जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी–न–किसी रूप में इस संघर्ष में पड़ा हुआ न हो अतः आज संघर्ष भी जीवन की कतिपथ अनिवार्य स्थितियों में एक हो गया है। जाति, वर्ग, स्तर, स्थिति आदि के आधार पर संघर्ष के भेदोपभेद का होना नितांत अनिवार्य है। समाज की निम्नतम इकाइयों के रूप में जहाँ पुरूष और नारी में आपसी संघर्ष होता रहता है, वहीं वैथ्यक्तिक स्तर पर इन में अंतः संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न होती है। यहाँ हमारा विवेच्य विषय नारी के मन और मस्तिष्क से संबंद्ध अंतः संघर्ष है, जिसका चित्रण स्वतंत्रता पूर्ववर्ती कतिपथ साहित्यक विधाओं में पाया जाता है।

मन और मस्तिष्क की व्याख्या पूर्व अनुखण्ड में कर दी गयी है, अतः उसी पुनरावृत्ती यहाँ समोचीन नहीं है। मन अथवा हृदय नारी की सहज संवेदनशील सौम्य–प्रकृति का प्रतीक है, जब कि मस्तिष्क तर्काश्रित बुद्धिवादिता का प्रतीक है। हृदय तत्व के प्रतीक नारी में जब बुद्धिवादी प्रवृत्ती के पनपने की अनिवार्य स्थिति उत्पन्न होती है, तब उस नारी में इन प्रतिद्वनद्वी प्रवृत्तियों हृदय और मस्तिष्क में संघर्ष छिड़ जाना भी अनिवार्य हो जाता है। नारी–चेतना और उसकी विद्रोही भावनायें जितने व्यापक स्तर पर स्वतंत्रता पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में वर्णित हुई है, उसकी तुलना में नारी का यह उक्त मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व कम ही चित्रित हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण नारी की यह अंतर्द्वन्द्व की स्थिति अकस्मात उत्पन्न नहीं होती है, प्रत्युत प्रथमतः नारी में अपनी वास्तविक दयनीय और शोषित स्थिति की समझ उत्पन्न होती है, जो नारी में उसके सामाजिक स्तर के आधार पर अनेक रूपों में चेतना का संचार कराती है। नारी की यही अंतश्चेतना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए बाह्य रूप में अभिव्यक्ति पाती है, जो कहीं क्रोधपूर्ण विद्रोह का रूप धारण कर सामाजिक और नैतिक परम्पराओं के उल्लंघन के रूप में अभिव्यक्त होती है, तो कहीं अनर्गल प्रलाप का रूप धारण करती है और कभी समझौता मौन आत्म–पीड़न अथवा आत्मघात में प्रर्यवसित होती है। नारी के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व की स्थिति, उक्त नारी चेतना के विद्रोहपूर्ण अभिव्यक्ति के बाद और कतिपथ संदर्भों में आत्मघात से पूर्वकी स्थिति है, क्योंकि नारी जब अपने प्रति किये जाने वाले शोषण और अत्याचार का विरोध करने के लिए जिस बुद्धिवादिता का संबल ग्रहण करती है, उस में भी उसे पूर्ण तुष्टी और शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इसका मुख्य कारण बुद्धिवादिता नारी की सहज–प्रवृत्ती के विरोध में पड़ती है तथा अर्थसमुपार्जन, आत्म केन्द्रीयता और प्रचलित नैतिक–मूल्यों की अपेक्षा इस बुद्धिवादिता के प्रमुख तत्व है। इस तथ्य के आधार पर कह सकते हैं कि बुद्धिवादिता के परिवेश में रहने के लिए नारी को विवश किया जाना और पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण हर स्तर पर पुरूष के साथ समानता प्राप्त करने की नारी की ललक ही उसके अन्तर्द्वन्द्व के प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं।

स्वतंत्रता पूर्ववर्ती सामाजिक परिवेश में नारी की तत्कालीन दयनीय दशा को सुधारने के प्रति ही समाज सुधारकों और साहित्यकारों की दृष्टि लगी रही, जो पूर्णतः प्रासंगिक भी थी। इसलिए बाल–विवाह, अनमेलविवाह, अंतर्जातीयविवाह, दहेजप्रथा, विधवा–पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा, नारी की आर्थिक स्वावलम्बिता जैसे विषयों को लेकर साहित्यकारों ने विविध विधाओं के केन्द्र में नारी जीवन से संबंद्ध समस्याओं का विश्लेषण और परिष्कार अन्वेषण के उपक्रम किये। ये विषय समकालीन परिस्थितियों के परिवेश में अत्यंत जटिल और विषद होने के कारण अधिकांश साहित्यकार इन्हीं स्थिति विशेषों की व्याख्या विश्लेषण में व्यस्त रहे इसीलिए उन्हें नारी के गहन–अंतस में झाँकने और वहाँ घटित उक्त अंतर्द्वन्द्व को देखने, विश्लेषित करने और तथ्योदघाटन करने के बहुत कम अवसर प्राप्त हुए। इन्हीं कारणों से प्रमुखतः नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व स्वतंत्रता पूर्ववर्ती साहित्यक विधाओं में विस्तृति प्राप्त नहीं कर सका, परन्तु इस अर्न्तद्वन्द्व वर्णन संबंधी बीजवपन की क्रिया आरम्भ हो

www.ignited.in

चुकी थी। अतः निम्न लिखित पंक्तियों में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य के उपन्यास, कहानी, नाटक आदि विधाओं में नारी के इस अंतर्द्वन्द्व के अन्वेशण का प्रयास किया गया है।

उपन्यास–नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व :

सतत् परिवर्तनशील समय की निर्बाध धारा में प्रवाहित व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा संबंधी प्रयत्नों विविध स्थिति विशेषों में उसकी मानसिकता और प्रतिक्रियाओं, उसके सुख–दुःख, स्वार्थ और त्याग से संबंद्ध जीवन चित्रों को प्रभावपूर्णता के साथ उपस्थित करने वाली साहित्य–विधा '' उपन्यास '' ही है। जीवन को उसकी संपूण्रता के साथ ग्रहण करने और अभिव्यंजित करने की शक्ति उपन्यास में है, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से लेकर मनोवैज्ञानिक धरातल पर तक प्रणीत होकर उपन्यास ने मानव–जीवन की बहु–आयामिता को अनायास ही सिद्ध कर दिया। समाज को अपने सम–सामयिक परिवेश में रूपायित करने के संदर्भ में उपन्यास अन्य विधाओं की तुलना में कहीं अधिक प्रभावपूर्ण और आगे रहा। जीवन के संपूर्ण चित्र को उपस्थित करने के प्रयत्न में आरम्भिक हिन्दी उपन्यास ने बृहदाकृती ग्रहण की, परन्तु संप्रति उपन्यास इतने लघुत्तम रूप में प्रणीत हो रहे हैं कि कुछ दिनों से लेकर कुछ घण्टों तक में घटित घटनाओं के दायरे में जीवन की संपूर्णता को परिभाषित और विश्लेषित करने के उपक्रम लक्षित हो रहे हैं। पाठकों की परिवर्तित मानसिकता जीवन में बढ़ती व्यस्तता और संघर्ष की स्थिति, लेखकीय प्रतिबद्धता, साहित्य जगत में बढ़ती व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता ऐसे कतिपथ अंश है, जिनके प्रभाव से उपन्यास के कथ्य और शिल्प में रेखांकन योग्य परिवर्तन घटित हुए। जीवन की संपूर्णता और यथार्तता के अतिनिकट रहने के कारण उपन्यास ने व्यक्ति के बाहय और अंतर्द्वन्द्व को पूरी सजीवता के साथ साकार किया है। जीवन की अपर संज्ञा संघर्ष होने के कारण उसका चित्रण करते समय उपन्यासकारों ने बड़ी सतर्कता से काम लिखा, क्योंकि एक व्यक्ति से दूसरे तक आते–आते–संघर्ष के स्थिति–विशेष, प्रतिक्रियायें और पर्यवसार नितांत भिन्न हो जाते हैं। इन संघर्ष विशेषों में भी हमारा आलोच्य विषय इस अनुखण्ड में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यासों के नारी पात्रों के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व से संबंद्ध है। एक व्यक्ति विशेष का किसी वर्ग, जाति, धर्म, सामाजिक दुराचार, आर्थिक शोषण के संदर्भ में जिस प्रकार संघर्षरत होना पड़ा और जिसका वर्णन स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य में हुआ, उसी विस्तृति के साथ नारी के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व का चित्रण नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह माना जा सकता है कि प्रेमचन्द पूर्व प्रणीत सभी तिलस्मी और अध्यारी उपन्यासों को ताक पर रख दिया जाय, तो बचे हुए अधिकांश उपन्यासों में लेखकों का उद्देश्य भारतीय परम्पराओं के अनुरूप नारी को पातिव्रत्य धर्म और सतीत्व रक्षा की शिक्षा देना ही प्रतीत होता है। अतः उन्हें नारी के अंतस की गहनता को मापने का न अवसर मिला न यह तथ्य उन्हें सूझा और न ही उन्हें यह आवश्यक महसूस हुआ। प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकार नारी जीवन की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहे। इसीलिए प्रेमचन्द यगीन उपन्यासों में नारी मानसिकता से संबंद्ध अंतर्द्वन्द्व और विभिन्न प्रतिक्रियाओं के सांकेतिक चित्र मात्र प्रस्तुत हुए हैं। मानवता के अमर साहित्यकार प्रेमचन्द में अपार अनुभव, सूक्ष्मदर्शिताशिक्ति, अद्वितीय प्रतिभा तथा ह्रदय भेदी अंतर्दृष्टी थी किन्तु मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं से अपरिचित होने तथा यथार्थ और आदर्श को लेकर चलने के कारण वे अपने उपन्यासों के समस्त रूप से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समावेश नहीं कर पाये। फिर भी इतना उन्होंने अनजान में किया वह हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि के लिए पर्याप्त है। इसी धरातल पर आगे चलकर जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, हजारीप्रसाद द्वववेदी, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, उषा प्रियंवदा, शिवानी, मन्नू भंडारी जैसे अनेक लेखक अपनी कृतियों में नारी मानसिकता की जटिलताओं और उसके मन एवं मस्तिष्क के द्वन्द्व को साकार करने में प्रयत्नशील रहे। इस अनुखण्ड में स्वतंत्रता पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्राप्त नारी के उक्त अंतर्द्वन्द्व के अन्वेषण और विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है।

चाहे नारी हो या पुरूष व्यक्ति के रूप में किसी की वास्तविक पहचान परिवार के दायरे में जितनी स्पष्ट एवं सटीक होती है, वैसे अन्यत्र नहीं, क्योंकि यह परिवार ही समाज की सशक्त नींव और उत्कृष्ट इकाई है। स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के पारिवारिक ढाँचे में अत्याधिक परिवर्तन लक्षित होते हैं। स्वतंत्रता के उपरांत समिष्टि परिवारों की विघटन क्रिया गति पकड़ती गयी। इस पारिवारिक विघटन का प्रभाव पुरूष की अपेक्षा नारी पर ही अधिक पड़ा।

स्वतंत्रता पूर्ववर्ती पारिवारिक ढाँचे में नारी के दायित्व, समस्यायें और विषमतायें कहीं अधिक थीं। शिक्षा ग्रहण करने के अवसर के साथ–साथ अपनी यतार्थ स्थिति को समझने की बिन्दु पर नारी पहुँच तो सकी, परन्तु पुरूष–प्रवृत्ति में कोई अत्याधिक गुणात्मक परिवर्तन नहीं आये। परिवार में नारी और पुरूष दोनों की समान भागीदारी होती है, मात्र दायित्व ही भिन्न प्रकार के होते हैं। एक ओर नारी उत्थान विषय पर जोरदार व्याख्यान देने वाले पुरूष अपनी अंतर प्रवृत्ति के धरातल पर प्राचीन और सामंतवादी परम्पराओं से आबद्ध ही रहे।

अपने इस स्वार्थ परक और षडयंत्रपूर्ण नारी–विरोधी अभियान के लिए उन्होंने धार्मिक संबल ग्रहण किया, जैसे शिवरानी देवी प्रेमचन्द का मानना है कि '' स्त्रियों पर सब से ज्यादा जादती हिन्दू ही करते हैं, जरा सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया। और पुरूष तो शुरू से ही स्त्रियों के साथ जादती करता आ रहा है। अपनी मर्जी के मापिक कायदा कानून भी तो पुरूष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु–विवाह, बृद्ध–विवाह पुरूष ही करते हैं। तब आखिर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जायेगी ? और समाज ने सारी जिम्मेदारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है। ऐसा मालूम होता है कि सारे बंधन स्त्रियों के लिए ही हैं। उससे पुरूषों को कोई बहस नहीं है। सारे कायदा–कानून अपने से उल्टे ही स्त्रियों के लिए बनाये हैं। अपने आपको उनके शिकंजों से बचाकर ही रखा।'' इसीलिए शिक्षिता होते हुअ भी नारी पत्नि अथवा पुत्री के रूप में अपने ही परिवार में कोई आदर के पात्र स्थान नहीं बना सकी। सुखमय पारिवारिक जीवन के आधारभूत तत्व प्रेम और आपसी विश्वास है और इन्हीं के संदर्भ में नारी अक्सर प्रवंचिता होती रही। एक ओर शिक्षा और परिश्रात्य सभ्यता के प्रभाव से नारी में बुद्धिवादिता के नये बीज पनपने लगे तो दूसरी ओर उसका ह्रदय अपनी सहज पारिवारिक स्थिति में ही आदर पाने की अपूर्ण लालसा से जूझ रहा था। विरोधी विचारों की यही टकराहट नारी के पत्नि रूप में प्रथमतः प्रेमचन्द की रचनाओं में रूपायित हुआ। नारी के पत्नि रूप में ही इस मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व का मूल कारण '' प्रेमचन्द्रयुगीन उपन्यासों में नारी का चित्रण मुख्यतः पत्नि के रूप में आया है। प्रेयसी और माता का रूप गौण ही है।

अपने पति से प्रेम और विश्वास करके ही वह सफल है। इन दोनों को खोकर वह भटक जाती है।'' नारी की यह भटकन स्वल्पकालीन ही क्यों न हो, परन्तु वह नारी के उक्त अंतर्द्वन्द्व का ही स्पष्ट संकेत देती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नारी के मन और मस्तिष्क का यह द्वन्द्व अपने हल्के से रूप में

ही सही प्रेमचन्द की लेखनी से उपन्यास विधा में सृजन का श्रेय पाया।

हृदय तत्व और बुद्धितत्व के प्रतीक मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व '' गोदान '' के एक प्रमुख पात्र गोविन्दी (मिसेज खन्ना) के चरित्र में लक्षित होता है। मि. खन्ना की पत्नि शिक्षिता, रूपवती और तीन बच्चों की माँ गोविन्दी के पारिवारिक दायरे में भौतिक सुख–संसादनों की कोई कमी नहीं है, यदि कोई कमी है, तो वह एक पत्नि द्वारा सर्वदा अपेक्षित पति–प्रेम की। प्रेमचन्द्र के शब्दों में गोविन्दी आदर्शपूर्ण नारीत्व धर्म की सजीव प्रतिमा है। मालती के प्रति पति के आकर्षण के संकेत और पारिवारिक दायित्वों के प्रति पति के उपेक्षापूर्ण व्यवहार गोविन्दी में विद्रोह की भावना को जागृत करते हैं परिणामतः वह अपने बच्चों को लेकर घर से निकल जाती है और एक पार्क में जा बैठती है। यहीं पर उसके मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व उभरकर सामने आता है। सहसा मेहताा का पार्क में पहुँचना और गोविन्दी के साथ वार्तालाप के प्रसंग में गोविन्दी का अंतर्द्वन्द्व पूर्णतः मुखरित हुआ है। मेहता का नारीत्व धर्म के प्रति श्रद्धदापूर्ण उद्‌गारों की अभिव्यक्ति हृदय तत्व की गरिमा का ही घोतन है, जिसके उत्तर में गोविन्दी का अंतर्द्वन्द्व इन व्यंग्यपूर्ण शब्दों में मुखरित हुआ है, यथा – नहीं मेहताजी यह आपका भ्रम है। ऐसी नारियाँ यहाँ आपको गली–गली में मिलेंगी और मैं तो उन सब से गयी–बीती हूँ। जो स्त्री अपने पुरूष को प्रसन्न न रख सके, अपने को उसके मन की न बना सके, वह भी कोई स्त्री है ?''[1] मेहता के मतानुसार विलास को तुच्छ समझना उपेक्षा और अनादर सहकर भी कर्तव्य से च्युत न होना, मातृत्व की वेदी पर बड़े से बड़े बलिदान देने के लिए सन्नद्ध रहना, त्याग को ही अपना बहुत बड़ा अधिकार मान सकना नारी के सहज, परन्तु उत्कृष्ट आदर्श हैं। इस मत से गोविन्दी कतई संतुष्ट नहीं है, उसे यह सब कुछ निरी आदर्शवादिता और बुद्धिवादी प्राधान्य वर्तमान सभ्यता में अनुपयुक्त और असामंजस्य प्रतीत होता है। इसीलिए वह कहती है– लेकिन वह आदर्श इस युग के लिए नहीं है। वह आदर्श सनातन है और अमर है। मनुष्य उसे विकृत करके अपना सर्वनाश कर रहा है।''[2] गोविन्दी इस तथ्य का भी संकेत देती है कि वर्तमान बुद्धिवादी प्रवृत्ती नारी के ह्रदयतत्व को ही नहीं, मूर्खतावश स्वंय को भी विनष्ट करने पर तुला हुआ है, क्योंकि बुद्धिवाद मानवीय भावनाओं के समन्वित रूप को दुर्बलता का प्रतीक मान बैठने की बड़ी भारी भूल कर चुका है। यदि गोविन्दी में बुद्धिवाद का प्राधान्य होता, तो वह अपने दुधमुहें बच्चे को साथ लेकर घर से नहीं निकलती, परन्तु बुद्धिवाद का तार्किक तत्व उसे गृह त्यागने की प्रेरणा इस रूप में देता है, जैसे अब पति की उपेक्षा और अनादर सहना उसके संयम की सीमा को पार कर चुका है। इसलिए वह दिखा देना चाहती है कि नारी सर्वदा आश्रिता और शोषिता रहने के लिए विवश नहीं है, वह स्वावलम्बिनी भी हो सकती है, परन्तु इसी प्रसंग में गोविन्दी अपने इस अंतर्द्वन्द्व को सह न सकने की दुर्बलता को अपने इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है यथा– '' हाँ, आपके सिवा मुझे कोई ऐसा नहीं नजर आता, जिसे मैं अपनी कथा सुनाऊँ। देखिए, यह बात अपने ही तक रखिएगा, हालांकि आपको यह याद दिलाने की जरूरत नहीं, मुझे अब अपना जीवन असहय हो गया है। मुझसे अब तक जतनी तपस्या हो सकी, मैंने की, लेकिन अब नहीं सही जाता। मालती मेरा सर्वनाश किए डालती है। मैं अपने किसी शस्त्र से उस पर विजय नहीं पा सकती। आपका उस पर प्रभाव है। वह जितना आपका आदर करती है, शायद और किसी मर्द का नहीं करती। अगर आप किसी तरह मुझे उसके पंजे से छुड़ा दें, तो मैं जन्म–भर आपकी ऋणी रहूँगी। उसके हाथों मेरा सौभाग्य लुटा जा रहा है। आप अगर मेरी रक्षा कर सकते हैं, तो कीजिए। मैं आज घर से यह इरादा करके चली थी कि फिर लौटकर न आऊँगी। मैंनं बड़ा जोर मारा कि मोह के सारे बन्धनों को तोड़कर फेंक दूँ। लेकिन औरत का हृदय बड़ा दुर्बल है मेहताजी! मोह उसका प्राण है। जीवन रहते मोह तोड़ना उसके लिए असम्भव है। मैंने आजतक अपनी व्यथा अपने मन रखी, लेकिन आज मैं आपसे आंचल फैलाकर भिक्षा माँगती हूँ। मालती से मेरा उद्वारा कीजिए। मैं इस मायाविनी के हाथों मिटी जा रही हूँ।''[1] गोविन्दी से उक्त कथन में मालती के लिए मायाविनी का जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, वास्तव में वह पाष्चात्य सभ्यता के प्रभाव से नारी में बढ़ती बुद्धिवादिता का संकेत है। जब नारी चरित्र में मस्तिष्क का प्राधान्य बढ़ जाता है, तब उसके ह्रदय तत्व का त्रस्त होना अत्यंत सहज बात है, परन्तु इस प्रसंग में बार–बार मेहता के शब्दों में जिस प्रकार नारी को अपने हृदय तत्व को सुरक्षित रखने एवं उसी को जीवन की सुदृढ़ आधारषिला के रूप में सिद्धू किया गया है।

तब अंतर्द्वन्द्व की स्थिति में बच्चे तक को साथ लेकर गृह त्यागने वाली गोविन्दी का पुनः गृहोन्मुख होना समोचीन ही है।

अंतर्द्वन्द्व के इस प्रसंग में प्रेमचन्द्र ने हृदय तत्व को विजय घोषित करने के लिए उसे पुनः उसके सहज पारिवारिक परिवेष में पूर्ण सफलता के साथ प्रतिष्ठित कर दिया है। उपेन्द्रनाथ अष्क के उपन्यास '' सितारों के खेल '' की एक प्रमुख पात्र '' लता '' भी पूर्व कथित इसी अंतर्द्वन्द्व से जूझती प्रतीत होती है। सहृदयतापूर्ण प्रेम की उपेक्षा करना नारी की सहज प्रवृत्ती का प्रधान गुण है। इसी प्रेम की अपेक्षा में तीन–तीन पुरूषों से परिचित होकर भी लता अपनी अच्छापूती। में विफल हो जाती है। वह प्रथमतः कॉलेज में जगत के प्रति सहजता के साथ हाथ बढ़ाती है, परन्तु तिरस्कृत होकर कुण्ठाग्रस्त होती है। इसी समय बंषीलाल उसका प्रेम पात्र बनना चाहता है, परन्तु लता की कुण्ठित मानसिकता उसका तिरस्कार करती है और बंषीलाल आत्मघात के प्रयत्न में अपाहिज हो जाता है। जगत के साथ के प्रेम–प्रसंग में लता में पनपी बुद्धिवादिता, बंषीलाल के अपाहिज होने पर कुछ समय के लिए अदृष्य–सी हो जाती है और उसका हृदय–पक्ष अपना वास्तविक स्थान ग्रहण करता है। बंषीलाल की सेवा–सुश्रूसा में लता अपने हृदय–तत्व को साकार करती है परन्तु उसके प्रति डॉ. अमृतराय के आकृष्ट होने पर लता में पुनः बुद्धिवादी भौतिकता जागृत होती है, परिणामतः वह बंषीलाल को एक बोझ और उसके प्रति अपने प्रेम की कोरी भावुकता समझने लगती है। इसके कारण उसमें पुनः अंतर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है, जिस में बुद्धिवादिता तत्काल विजयी होती है। और लता बंषीलाल को जहर देकर मार डालती है। इसके बाद जब डॉ. अमृतराय लता के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करता है, तब लता का हृदय तत्व तिल–मिला उठता है और वह बुरी तरह पश्चातत्प होती है। लता का यह पश्चात्ताप उसके अंतर्द्वन्द्व का ही पर्यवसान है, जो अंततः आत्मघात में परिणत होता है। तर्क और सतीत्व की भावना के रूप में लता में मस्तिष्क और मन का ही द्वन्द्व वर्णित हुआ है।

नारी की एक अत्यंत निरादरपूर्ण सामाजिक पहचान '' वैष्या '' के रूप में होती है और स्वंय इस व्यवसाय को अपनाने के लिए विवष नारी भी इस से घृणा करती है। सहृदयता की प्रतिमूर्ति बनकर अपने समस्त परिवेष को प्रभावित करते हुए समुचित आदर पाने की नारी की आकांक्षा पूर्णतः समोचीन है। परन्तु

www.ignited.in

पुरूष की अनियंत्रित सुखा पेक्षी प्रवृत्ती के प्रभाव से अस्तित्व में आधी वैष्या नारी भी आदर की अपेक्षा और निरादर प्राप्ति के रूप में हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व से ग्रसित है, जिसके बारे में डॉ. बिन्दु अग्रवल का कथन है '' वैष्यावृत्ति नीच, पतित और जघन्य कार्य है इस बात को जैसे सभ्य और कुलीन समाज समझता है वैसे ही वैष्या भी समझती है। इसी कारण उसके मन में हीन–भावना घर कर लेती है। उसकी यह हीन–भावना कभी आत्मग्लानि के रूप में, कभी समाज के प्रति विद्रोह के रूप में और कभी अपने–आपको निर्दोष प्रमाणित करने के रूप में दिखाई देती है।''[1] नारी के मन में घर कर लेने वाली यह हीन–भावना उसके अंतर्द्वन्द्व का ही परिणाम है। इलाचन्द्र जोषी प्रणीत उपन्यास '' पर्दे की रानी '' की निरंजना में यही अंतर्द्वन्द्व लक्षित होता है, जो एक वैष्या पुत्री है। निरंजना का अंतर्द्वन्द्व कभी उसके प्रति आकर्षित पुरूष को तड़पाने में एक मानसिक ग्रंथि बनकर अभिव्यक्त होता है तो कभी आत्म न्यूवता की भावना में परिणत होता है। स्वंय निरंजना के शब्दों में '' मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान है, मुझे ऐसा लगता है। कभी–कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र–विचित्र संस्कारों के स्तर एक के उपर एक इस सिलसिले में जमे हुए हैं, और उनमें से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मेल नहीं खाते। उन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल स्वभाव भयंकर भार से दबा पड़ा है मेरी यह मूल प्रवृत्ति कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारे छोड़ती है, और कभी स्निग्न–शीतल जलधारा बरसती है। पर मैं न पहले का कारण जानती हूँ न दूसरे का। मैं अपने भीतर के विचित्र संस्कारों की क्रिया–प्रतिक्रिया की एक कठपुतली मात्र हूँ।[2] इस कथन में '' विरोधाभास '' शब्द अंतर्द्वन्द्व का ही घोतक है और निरंजना जिस मूल केन्द्र का उल्लेख करती है, वह उसका सहज हृदय तत्व है। परन्तु अर्थहीन परम्पराओं से विनिर्मित परतें और बुद्धिवादी प्रभाव से बनी संस्कारों की परतें उसके हृदय तत्व पर क्रमषः जमती जाती हैं, जिनका भार दुर्वह हो जाता है। सामाजिक पहचान के संदर्भ में निरंजना के साथ मानसिक स्तर पर जो अन्याय हो रहा है, वही भावना उसमें विद्रोह की चिन्गारियाँ छोड़ता है, और कभी–कभी प्रेम पिपासा में उसका हृदय अपनी सहज स्थिति में स्निग्धता को पाने लगता है। यद्यपि निरंजना वैष्या नहीं है परन्तु उसके अंतर्द्वन्द्व के मूल में उसके चरित्र पर लगे '' वैष्यापुत्री '' वाले लेबल को फाड़ फेंक देने की भावना ही जागृत प्रतीत होती है।

मार्क्सवादी विचारधारा के साहित्यकार यषपाल को मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की श्रृंखला में एक षिथिल कड़ी के रूप में देखा तो जाता है, परन्तु उन्होंने भी मन (हृदय) और मस्तिष्क के अलग–अलग अस्तित्व को स्वीकार किया है। अपने वृहद उपन्यास '' झूठा–सच'' के द्वितीय खण्ड में उन्होंने एक नारी पात्र डॉ. श्यामा से इस प्रकार कहलवाया, जो प्रेम और दैहिक सुख के संदर्भ में अभिव्यक्त विद्रोही नारी चेतना को रूपायित करता है। डॉ. श्यामा, तारा से कहती है '' तरसना ही प्यार है ? प्यार क्या संतोष नहीं चाहता ? रक्त–मांस का उन्मेष ही सही, पर हृदय और क्या है, मस्तिष्क और क्या है ? शरीर को काटकर परीक्षा करने से तो हृदय में प्यार या मस्तिष्क में विचार रखे हुए नहीं मिलते। प्यार और विचार शरीर का व्यवहार मात्र है।''

मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व के संदर्भ में यहाँ विवेच्य उपन्यास '' झूठासच '' नहीं प्रत्युत ऐतिहासिक कल्पना के संबल प्रणीत यषपाल का एक अन्य उपन्यास '' दिव्या '' है जिस में मध्यकालीन भारतीय समाज में नारी के संदर्भ में प्रचलित विकृत परंपराओं और व्याप्त धारणाओं के सजीवचित्र अंकित है। सागलनगर के एक द्विज कुल में उत्पन्न अनिंध–सुन्दरी दिव्या अपने हृदय में पृथुसेन के प्रति उत्पन्न सहज प्रेम भावना के कारण स्वंय को पृथुसेन के समक्ष समर्पित कर डालती है। वह इसे एक सहज मानवीय धर्म मानती है। इस सर्वस्व समर्पण के उपरान्त पृथुसेन युद्ध के लिए प्रस्थान करता है और कन्या रूप में गर्भवती होने के कारण दिव्या को परिवार की तीव्र भर्त्सना सहनी पड़ती है। उस समय उसकी तर्क–बुद्धि उस निन्दा की उपेक्षा करती है।

क्योंकि दिव्या उस निन्दा को अपने प्रेमी और नारीत्व का अपमान समझती है। इसी समय उस में द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। वह विचारती है कि '' क्या पृथुसेन से अनुरा पाप था ? क्या गर्भ धारण करना हो पाप था ? सम्पूर्ण सृष्टि गर्भ धारण करती है। मैंने ही क्या किया–द्विज समाज की आज्ञा बिना गर्भ धारण किया इसी कर्म का यह फल है। क्या कर्म फल देने वाला द्विज समाज ही है।'' दिव्या का यह अंतर्द्वन्द्व उसे गृह त्यागने से लेकर दासी बनने तक को विवष करता है। जब वह माता के रूप में पुत्र शाकुल की धुधा शान्त नहीं कर पाती, तब वह हृदयतत्व की प्रेरणा से वैष्या बनने का निष्चय कर लेती है, क्योंकि बौद्ध–विहार में वैष्या को ही शरण दी जा सकती है, जबकि अन्य नारियों को अपने अभिभावकों से इसकी अनुमति लेनी पड़ती है, वैष्या तो स्वतंत्र नारी है। आत्महत्या के प्रयत्न में वह अपने पुत्र को ही खो देती है। जिस पुरूष समाज के अत्याचारों से उसकी यह दुर्गति हुई है, उसी समाज से प्रतिशोध लेने के लिए वह पुनः सागल की नगर–वधू बनती है, तथा अपने संगीत, नृत्य और सौंदर्य के सम्मुख सागल के पुरूष समाज को घुटने टेकन के लिए विवष करती है। यह उसके अंतर्द्वन्द्व में मस्तिष्क की प्रतिक्रिया का परिणाम ही है, परन्तु अंततोगत्वा दिव्या अनुभव करती है कि नारी जीवन में वास्तविक सुख और शांति तभी कदम रख सकते हैं, जब समाज द्वारा प्रमाणित वैवाहिक–सूत्र के माध्यम नारी और पुरूष में पारस्परिक समर्पण हो इसलिए वह शिल्पी मारिष का वरण करती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास साहित्य के एक अनुपमेय हस्ताक्षर जैनेन्द्र कुमार है। उनकी स्वतंत्रता पूर्ववर्ती रचनाओं में उपन्यास '' कल्याणी '' को नारी के अंतर्द्वन्द्व के संदर्भ में एक अप्रतिम रचना कहा जा सकता है। इस उपन्यास की नायिका और प्रधान पात्र कल्याणी है, जिसके व्यक्तित्व और जीवन शैली में हृदय–तत्व और मस्तिष्क को स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है। मातृत्व की तीव्र अभिलाषा विषुद्ध हृदय–तत्व की पहचान है। कल्याणी नारी जीवन की सार्थकता को मातृत्व में ही देखती है। उसके ये शब्द बौद्धिकता से प्रेरित आधुनिकाओं के मुह पर लगे जोर–दार तमाचे से प्रतीत होते हैं '' स्त्री की सार्थकता मात्त्व में है। मातृत्व दायित्व है। स्वातंत्र्य स्त्री निपट स्वच्छन्द रहना चाहती है उसके मूल में यही अभिलाषा है कि माता बनने से वह बची रहे और पुरूष के प्रति उसका प्रेयसी रूप ही प्रतिष्ठित बना रहे लेकिन इससे बड़ी प्रवंचना कोई नहीं है।''[3] इसीलिए वह वकील साहब से स्पष्ट शब्दों में कहती है कि वह मात्र अपने गर्भस्त षिषु के लिए जीवित है, क्योंकि पति द्वारा कई बार प्रताड़ित होने और चारित्र्यक शुद्धता के संदर्भ में लांछित होने के कारण जीवन के प्रति उसका मोह भंग हो जाता है। उसकी दृष्टि में एक विवाहिता भारतीय नारी के लिए डॉक्टरी करना, पैसे कमाना, मोटर चलाना आदि शास्त्र विरूद्ध हैं। जब डॉ. असरानी उससे ऊँची आमदनी के साथ–साथ पातिव्रत्य धर्म निर्वहण की भी अपेक्षा करने लगता है, तब उस में उत्पन्न बंतर्द्वन्द्व की स्थिति अभिव्यंजना पाती है।

कल्याणी का मानना है कि उसकी डॉक्टरी पेषे के कारण उसे कई बार अच्छे–बुरे लोगों से मिलकर काम करना अनिवार्य–सा

www.ignited.in

हो जाता है इसीलिए वह अपने मानसिक संघर्ष से मुक्ति हेतु पति से कहती है " दोनों में से एक मुझे चुनकर दे दो, पातिव्रत या डॉक्टरी। मैं पति में परायण हो जाऊँ या डॉक्टरी की कमाई करके दूँ। दोनों साथ होना कठिन है।"[1]

पाप और पुण्य जैसी बहु चर्चित वस्तु के आधार पर प्रणीत होते हुए भी भगवतीचरण वर्मा का ऐतिहासिक कल्पना प्रधान उपन्यास " चित्रलेखा " अपने कथ्य के उद्‌घाटन में अत्यंत विलक्षण है। इस उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र चित्रलेखा है, जो पाटलीपुत्र की प्रसिद्ध नर्तकी है। उसमें विषुद्ध प्रेम को साकार करने वाला हृदय तत्व है और राज दरबार में अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने वाले योगी कुमार गिरी को पछाड़ सकने की अद्‌भुत तर्क बुद्धि भी। लेखक ने चित्रलेखा के चरित्र में थोड़े से समय के लिए अंतर्द्वन्द्व की स्थिति की उत्पन्न कर दिया। चित्रलेखा सामंत बीज गुप्त के विलास मंदिर में पहुँचकर भी बीजगुप्त के प्रति विषुद्ध प्रेम–भावना ही रखती है। जब सम्राट चन्द्रेगुप्त के दरबार में कुमारगिरि अपने अहं का प्रदर्षन करने लगता है, तब चित्रलेखा से रहा नहीं जाता। वह अपने ज्ञान और मस्तिष्क के बल–बूते उसे पराजित कर देती है, लेकिन इसके उपरांत ही उसमें द्वन्द्व के संकेत मिलने लगते हैं। उसके इस अंतर्द्वन्द्व में अन्य घटनाओं का भी थोड़ा बहुत योगदान रहता है।

वह अपने प्रिय बीजगुप्त और उसकी भावी पत्नि यषोधरा के वैवाहिक जीवन को मुक्त रखने के लिए दीक्षा के बहाने कुमार गिरि के आश्रम में पहुँच जाती है, परन्तु वहाँ वह अपने द्वन्द्व से मुक्ति पाने के लिए कुमारगिरि के सम्मुख स्वीकार करती है कि वह उससे प्रेम करने के लिए ही आयी है।

आश्रम में चित्रलेखा का चारित्र्यक पतन होता है, परन्तु वह अपने द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाती है, क्योंकि एक ओर बीजगुप्त का विषुद्ध प्रेम, तो दूसरी ओर दीक्षा की आत्म–प्रवंचना उसे सतत् अषांत करते रहते हैं। उपन्यास के अंत में चित्रलेखा अपना सर्वस्व त्यागकर अतीत के लिए पश्चात्ताप करती हुई भिक्षुणी बनकर बीजगुप्त के साथ निकल पड़ती है।

दैहिक अतृप्त भावना से विचलित नारी का हृदयतत्व रात्रि की प्रतीक्षा करता है परन्तु उस स्थिति के फलीभूत होने से पूर्व ही मस्तिष्क की कठोरता उसे कुचल देती है। नीलमणि के बारे में डॉ. सूतदेव हंस का कथन है–" नीलमणि का मन अचेतन और अवचेतन के भीषण द्वन्द्व में ग्रस्त है। नारी मनोविज्ञान की यह सजीव प्रतिमूर्ति है। मन और मस्तिष्क, प्रेम और अधिकार, भावना और संस्कार की युगल प्रवृत्तियाँ इसके व्यक्तित्व में सबलता से कार्यषील है।"[1] नीलमणि का सहपाटी विनय जब उसे विवाह से पूर्व प्रेम और परिचय की अपेक्षा विवाहोपरांत परिचय और प्रेम के महत्व के बारे में बताता है, तब नीलमणि में बौद्धिकता का मोहभंग हो जाता है और द्वन्द्व मुक्त एक सहज पत्नि के रूप में वह अपने पति को समर्पित होती है।

नीलमणि की मानसिक दुविधा के मूल में उसके मस्तिष्क द्वारा हृदय पर डाला जाने वाला वह दबाव है, जो उसे जीवन की सहज धारा में सानंद बहने नहीं देता इसलिए वह अपने मस्तिष्क के बलबूते जीवनधारा की प्रतिकूल दिषा में तैरने का प्रयत्न कर उसमें विफल होती है। वैवाहिक संस्था पर प्रष्न चिह्‌न लगाने के माध्यम नीलमणि को तर्क–बुद्धि अपने महत्व की घोषणा तो कर पाती है, परन्तु वह हृदय में उफनने वाली सहज प्रेम–भावनाओं को अवरूद्ध करने के यत्न में टूटकर बिखर जाती है

इसलिए नीलमणि का अंतस्संघर्ष स्वनिर्मित विडम्बना ही है। इसी प्रकार आचार्यजी के अन्य दो उपन्यास " हृदय की परख " और " आत्मदाह " में भी नारी का अंतर्द्वन्द्व स्पष्टतः अंकित हुआ है।

" हृदय की परख " की सरला नारी सहज प्रेमापेक्षी सरल हृदया है, साथ–ही–साथ उसमें क्रमागत परम्पराओं के प्रति दृढ़ आस्था भी। वह अपनी इस पारस्परिक प्रतिबद्धता के कारण ही सत्यव्रत को तुच्छ वासनाओं से परे रहते हुए आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने की सलाह देती है। परन्तु ज बवह इलाहाबाद में शारदा के पास रहते हुए विद्याधर से चित्रकला सीखने लगती है, तब अनायास ही उसका हृदय अपनी प्रेमापेक्षी भावना को व्यक्त करने के लिए लालायित हो उठता है। हृदय और मस्तिष्क की इस टकराहट से सरला घबरा उठती है। उसकी इस दषा के वर्णन में स्वंय लेखक लिखते हैं " उसका ऐसा परिष्कृत मस्तिष्क, ऐसा विस्तृत हृदय, ऐसा अटल निष्चय, ऐसे वेग से उस युवक की ओर बहा जा रहा है।

कि स्वंय सरला भी घबरा उठी है। यह युवक नित्य आकर ज्यों–ज्यों कागज पर सरला का हाथ पक्का कराता है, त्यों–त्यों उसका हृदय कच्चा होता चला जा रहा है। जब युवक आता है तो सरला न तो उससे विषेष बातें ही करती है और न उसकी ओर देखती ही है, पर उसके चले जाने पर इस मूर्खता के लिए पछताती है।"[1] सरला अपने इस द्वन्द्व से मुक्ति का एक मात्र उपसय सत्यव्रत के प्रति अपना समर्पण ही मानती है।

अंचल के उपन्यास " चढ़ती धूप " की नायिका भीद्वन्द्वग्रस्त है, जिसके मूल में प्रेम और विवाह से संबंद्ध मानसिक और सामाजिक स्थिति विषेषों में विद्यमान असामंजस्य ही है। ममता का हृदय प्रेमी मोहन को समर्पित हो चुका है, जबकि उसका विवाह अल्पषिक्षित श्यामा चरण से संपन्न हुआ है। प्रेम की असफलता और अनिष्चित विवाह के द्वन्द्व को झेलना ममता के लिए बहुत कठिन हो जाता है। इसलिए वह विवाहोपरांत की दैनिक और दैहिक परंपराओं को भी सही ढंग से निभा नहीं पाती है। श्यामाचरण का सामीप्य उसमें घृणा उत्पन्न करने लगता है और दूसरी ओर पति ममता के आचरण पर संदेह करने लगता है। ममता के मानसिक उलझन को सुलझाने के लिए उसका प्रेमी मोहन उससे वचन लेता है कि ममता अपने तन–मन के साथ पति को समर्पित होगी। इसके बदले में ममता कहती है–

" आज से सारा शरीर मैं उनके आगे फेंक दूँगी, मन–मन–मन के विषय में कोई अंडर टेकिंग देने की सामर्थ्य मुझमें नहीं भैया ? यहाँ मैं विवष हूँ। यही संसार की प्रत्येक सती विवष हो जाती है। यहीं मैं लाचार हूँ। तुम विष्वास करो मैं पूरा यत्न करूँगी कि अपनी संकरी विषयगामिनी वृत्तियों को एकाग्र कर मन के भीतर बहते सारे उल्टे स्त्रोतों को उनकी ओर ले चलूँ। आज तक उनसे अपने को बचाती फिरती थी। अब अपने से अपने को बचाऊँगी।"[1] ममता के इन शब्दों में प्रयुक्त विवषता और लाचारी उसके अंतर संघर्ष को अभिव्यंजित कर रहे हैं। प्रेम के संदर्भ में यहाँ अंचल ने जिस नैतिक मान्यता की पुष्टी की है, वह कुछ–कुछ जैनेन्द्रीयता–सी प्रतीत होती है, क्योंकि ममता के माध्यम अंचल ने प्रेम और विवाह की इस समस्या को अनेक सत्तियों की समस्या के रूप में चित्रित किया है। ममता के शब्दों में उल्टी बहने वाली जिन धाराओं का उल्लेख हुआ है, वे प्रकारांतर से हृदय और मस्तिष्क की पारस्परिक विपरीत गति से ही संबंद्ध है। अतः ऐसी स्थिति में द्वन्द्व भी अनिवार्य है। प्रेमी

मोहन की मृत्यु का समाचार मिलने पर पति के होते हुए भी ममता का सिंदूर पोछलेना, चूड़ियाँ फोड़ डालना, उसके अंतर्द्वन्द्व की भीषणता के परिचायक हैं। यह आत्मघात तक कर लेना चाहती है परन्तु मोहन के क्रान्तिकारी मित्रों के साथ उसकी समझौता वादिता का प्रतीक है।

कहानी :– नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व

ग्रामीण अंचलों से लेकर महानगरीय परिवेषों तक के सामाजिक जीवन में बढ़ती व्यस्तता और धीरे–धीरे घटते पाठकीय संयम को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय, तो अन्य साहित्यक विधाओं की अपेक्षा कहानी ही संप्रति–कालीन मानसिकता के अनुकूल पड़ती है। जीवन के खंडचित्र मात्र को प्रस्तुत करने पर भी जीवन–विष्लेषण के संदर्भों में कहानी के प्रभावपूर्ण और महत्वपूर्ण योगदान को कदापि नकारा नहीं जा सकता है। आधुनिक सभ्यता के परिवेष में किसी भी व्यक्तित्व के विष्लेषणार्थ अमुक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को लेने की अपेक्षा, उसके किसी एक जीवन–खण्ड को अथवा व्यक्तित्व के टुकड़े को लेने और उसी के आधार पर प्रामाणिक तथ्यों को प्रस्तुत करने की गहनतम रूचि वर्तमान कहानी लेखकों में स्पष्टतः परिलक्षित होती है इसलिए कहा जा सकता है कि साहित्य में आज '' खण्ड '' या ''टुकड़े '' का उतना ही महत्व है, जितना पहले '' संपूर्ण '' का रहा करता था इसीलिए व्यक्ति की एक–एक भंगिमा, एक–एक प्रतिक्रिया, एक–एक भावना तक कहानी के वस्तु पक्ष को पूर्ण शान्ति प्रदान करने की क्षमता रखती है।

प्रेमचंद के समकालीन होते हुए जयषंकर प्रसाद ने कहानी साहित्य में अपना एक विलक्षण एवं अनुपमेय स्थान बनाया। भारत के गौरवमय अतीत, उत्कृष्ट संस्कृति, नारी का आप्रतिम प्रेम और अद्भुत त्याग भावना, राष्ट्रीय स्वाधीनता, व्यक्ति के बाह्य और अंतस् का संघर्ष जैसे विषयों को प्रसाद ने अपने विपुल कहानी साहित्य को वस्तु बनायी। उन्होंने अपनी कहानियों में नारी के आदर्षपूर्ण चित्र को अंकित करने का पूर्ण प्रयास किया। कहानी साहित्य के संदर्भ में प्रसाद की नारी भावना पर विचार व्यक्त करते हुए डॉ. इन्द्रनाथ मदान का कहना है कि '' नारी के व्यक्तित्व में त्याग–भाव, श्रमाषीलता, भावुकता, मादकता तथा सुन्दरता का संगम है जो इनके लगभग सभी नारी पात्रों में लक्षित होता है।''[2] प्रसाद को अत्यंत प्रसिद्ध महानियों में '' आकाषदीप '', ''पुरस्कार '', '' शालवती '' आदि ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें नारी का अंतदृढ़ स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का कथन उल्लेखनीय है, यथा '' आकाषदीप '' की चम्पा, '' देवरथ '' की सुमाता, '' पुरस्कार '' की मधूलिका आदि प्रसाद की अनुपम नारी सृष्टि हैं। नियति और समाज से एक–साथ संघर्षरत नारी का ऐसा चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।''[1]

'' आकाषदीप '' में लेखक ने जहाँ मस्तिष्क पर हृदय के विजय को सिद्ध किया है, वहीं कहानी '' पुरस्कार '' में मधूलिका के माध्यम कुछ देर के लिए भावुकता पर तर्क का विजय दिखाया गया है। मधूलिका, अरूण से प्रेम करती है, जो राज–षासन–तंत्र के विरूद्ध विप्लव करना चाहता है।

अरूण द्वारा बताए गए क्रांति के कारणों और अरूण के प्रेम से अभिभूत होकर मधूलिका भी विप्लव में योगदान देने के लिए अद्यत हो जाती है, परन्तु उसकी तर्कबुद्धि उसे अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करती है। इस प्रकार मधूलिका में प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है लेकिन इस संदर्भ में लेखक व्यष्टि की अपेक्षा समिष्टि के कल्याण का समर्थन करते हुए मधूलिका की कर्तव्य परायणता को विजयी घोषित कर देते हैं। अरूण कैद कर लिया जाता है और पुरस्कारस्वरूप अपने लिए भी मृत्युछंड को माँगकर मधूलिका प्रेम के प्रति अपनी अप्रतिम निष्ठा दर्षाती है। इसप्रकार यहाँ द्वन्द्व का पर्यवसान त्याग भावना में होता है।

नारी जीवन में मातृत्व की स्थिति अत्यंत मधुर और अनिर्वचनीय होती है, जिसकी प्राप्ति में ही नारी स्वंय को धन्य समझती है, और इस नैसर्गिक वरदान से वंचित हो जाने की स्थिति में उसका कूंठित अथवा कठोर हो जाना भी सहज प्रतिक्रियाएँ हैं। इतना ही नहीं, जब इस दुर्भाग्यपूर्ण वंध्यापन से अभिषप्ता के आस–पास कोई माता और उसके बड़े ही प्यारे–प्यारे बच्चे हों, तो उस मातृत्वहीना की मानसिकता अप्रत्याषित प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। मातृत्व की दषा से वंचिता रामेष्वरी में नारी सहज कोमल हृदय की कोई कमी नहीं है। लेखक के शब्दों में – '' यद्यपि रामेष्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था।

उनका हृदय उस भूमि की तरह था जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के उपर लाने वाला कोई नहीं था।''[1] इसी हृदय–तत्व की सहज प्रतिक्रिया के स्वरूप रामेष्वरी अपनी देवरानी के बच्चों के प्रति अपनी प्रेमाभिव्यक्ति को रोक नहीं पाती है, थथा '' सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेष्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे–पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेष्वरी उस समय द्वेष भूल गयीं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विष्वास होता कि रामेष्वरी उन बच्चों की माता है।'' लेकिन जब–जब पति रामजीदास, रामेष्वरी को बच्चों के प्रति ऐसा ही प्रेम व्यवहार करने की सलाह देते हैं तब–तब रामेष्वरी का मस्तिष्क यही तर्क प्रस्तुत करता कि जब यह संतान उसकी अपनी कोख की उपज नहीं है, तब उसके प्रति वह लगाव कैसे रख सकती है, और इसी तर्क के कारण उसमें कठोरता का संचार हो जाता और उसके विचार अत्यंत क्रूर, जैसे '' इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ नहीं। दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पेदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे यह दिन देखने पड़ते।

जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिए जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरे घर का सत्यानाष कर रखा है।[1]'' बच्चों के प्रति अपने प्रेम को रोक पाना और उनके साथ कठोरता का व्यवहार करना रामेष्वरी के लिए अत्यंत कठिन हो जाता है। इसी मन की असामंजस्यता उसके अंतर्द्वन्द्व को यूँ अभिव्यंजित करती है '' इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जाएं पाप करे। आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।[2]'' मनोहर के छज्जे से गिरजाने के बाद रामेष्वरी बेहोष हो जाती है और उस हालत में भी प्रलापों के रूप में उसका द्वन्द्व जारी रहता है, इस बार उसका रूझान हृदय–तत्व की ओर अधिक रहता है। होष में आने के बाद उसे जब ज्ञात होता है कि मनोहर सुरक्षित है, तभी वह द्वन्द्वमुक्त हो पाती है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की घटना–प्रधान ऐतिहासिक कहानी '' दुखव मैं कासे कहूँ मोरी सजनी '' में एक ऐसी नारी के अंतर्द्वन्द्व का वर्णन है, जो द्वन्द्व उसके विषुद्ध प्रेम और पवित्र चरित्र के प्रति व्यक्त पुरूष की शंकालू दृष्टि का परिणाम है। चाहे आधुनिक युग का पूँजीवाद हो अथवा उसका ऐतिहासिक रूप सामंतवाद, को ही आत्मसाथ कर जीवन व्यापन करने वाला पुरूष सदा प्रेम और नैतिकता के संदर्भ में नारी जाति को शोषित करता हो आ रहा है इसलिए नारी चाहे खेत–खलिहानों को मजदूरिन हो अथवा अतीत में राजसिंहासन पर सुषोभित कोई बेगम, वह सदा पुरूष दृष्टि में मात्र देहधारी नारी ही थी और न उसके हृदय का ही कोई महत्व था, न ही उसके जीवन का।

कहानी ''दुखवा में कासे कहूँ मोरी सजनी'' की प्रमुख नारी–पात्री बेगमसलीमा बादषाह शाहजहाँ की प्रिय पत्नि है जो षिकार पर गए हुए पति की प्रतीक्षा में दो दिनों से प्रतीक्षिता है। जब सलीमा को महसूस होता है, तब वह अपनी कमसिन साकी को अपने पास बिठाकर बातें करने लगती है और सलामा को ज्ञात होता है कि दासी उससे ही प्रेम करती है।

कहानी घटनाक्रम में तब एक नाटकीय मोड़ आता है, जब बेहोष पड़ी सलीमा का दासी द्वारा चुंबन लेते हुए शाहजहाँ देख लेता है। यहीं पर बादषाह को यह भी ज्ञात होता है कि दासी औरत नहीं, मर्द है। इस बिंदु पर कहानी में घटनाएँ ऐसी मोड़ लेती हैं कि पात्रों के पारस्परिक विचार और तथ्य संप्रेक्षण में व्याद्यात उत्पन्न होता है। निरपराध सलीमा को अपने महल में ही कैद हो जाने की बात से असीम वेदना होती है। वह इतना ही समझती है कि शाहजहाँ के आगमन के समय उसका बेसुध पड़ा रहना ही उसका अपराध था और इतनी छोटी–सी भूल के लिए उसे इतना बड़ा दण्ड दिया गया है। नारी के प्रति इतनी उपेक्षा बरतने वाले पुरूषों पर व्यंग्य करती और अपनी आंतरिक छटपटाहट को स्वर देती हुई सलीमा कहती है ठीक है खूबसूरती की बात में जिनका कारोबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ? तो अब जीनत– महल की किस्मत खुली ?''[1] सलीमा की अर्जी को ठुकराते हुए शाहजहाँ उसे मर जाने का हुकुम देता है। सलीमा की त्रासदी उसका अपने तथाकथित दोष की अनभिज्ञता और उसका निवेदन तक नहीं सुना जाना है।

जिसके लिए उसका हृदय दूसरी ओर स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्मघात के शरण में जाने की मस्तिष्क की प्रेरणा यथा '' तब मैं बेगम क्या हुई ? जीनत और बादियाँ सुनेंगी तो क्या कहेंगी ? इस बेइज्जती के बाद मुँह दिखाने लायक कहाँ रही ? अब तो मरना ही ठीक है। अफसोस, मैं किसी गरीब की औरत क्यों न हुई।''[1] इस भीषण आंतरिक द्वन्द्व का स्वल्पकाल ही सलीमा के लिए असहनीय हो जाता है और वह विष खा लेती है। वह अपनी मृत्यु से पहले चारित्रिक विषुद्धता को निरूपित करते हुए पुरूष की अहंवादिता को चूर कर देती है।

मनोवैज्ञानिक विष्लेषण और व्यष्टि बोध पर आधारित जैनेन्द्र की कहानियों में नारी का अंतस जीवंत–रूप प्राप्त कर सका है। उन्होंने नारी आंतरिक व्यथा, अंतर्द्वन्द्व और विद्रोह को छोटे–से–छोटे संदर्भ में भी पूर्णता और सजीवता प्रदान की। जैनेन्द्र की कहानी '' पत्नि '' में सुनन्दा के माध्यम एक साधारण भारतीय पत्नि के अंतर्द्वन्द्व की मौनाभिव्यक्ति का प्रयास किया गया है। पत्नि संनन्दा पति की छोटी से छोटी आवष्यकता का भी पूरा ध्यान रखती है और अपेक्षा करती है कि वह जिस प्रकार मित्रों के साथ राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में चर्चा करता रहता है, उसी प्रकार पति उससे भी बातें करें, परन्तु अपने ही धुन में मस्त पति कालिंदीचरण पत्नि की मौन अपेक्षाओं की ओर ध्यान ही नहीं देता है। वह अपने क्रोध को भी स्वर दे नहीं पाती है, क्योंकि वह अपने उपर पति का साधिकार शासन चाहती है। उसका आंतरिक संघर्ष सदा अतीत की स्मृतियों में शान्ति का अन्वेषण करते रहता है।

अज्ञेय की कहानी '' रोज '' जो अन्यत्र '' ग्रैंगीन '' के नाम से प्रकाषित है, में भी लगभग सुनंदा की स्थिति में मालती जीवन बिताती है, जिसका पति किसी पहाड़ी आँचल में डॉक्टर है। एक सामान्य मध्यवर्गीय कन्या के रूप में मालती अपने विवाहोपरांत जीवन के आकर्षक सपने संजोती है, परन्तु पति डॉ. महेष्वर के साथ पहाड़ों के मध्य पहुँचकर उसका जीवन भी पथरा–सा जाता है, उसके जीवन में एक ठहराव–सा आ जाता है। प्रतिदिन दो जून की रोटी पकाना, पति द्वारा ग्रैंगीन मरीजों के हाथ–पैर काटे जाने की बातें सुनना, अस्पताल की घड़ी में खड़कने वाली घंटियों को गिनना, बस यही मालती का जीवन है। अनिच्छित दाम्पत्य जीवन संबंध अनभिव्यक्त विचारों के बोझ से जब मस्तिष्क लद जाता है, तब उसका दबाव मालती के हृदय पर भी पड़ने लगता है। इस मानसिक तनाव से मालती का माता–हृदय इस कदर दब जाता है कि वह अपने बच्चे टिटी के पलंग से गिर जाने पर इतना ही कह पाती है कि इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।''[1] वास्तव में कहानी जहाँ ग्रैंगीन के नाम में प्रकाषित है, वहाँ यह शीर्षक मालती के मौन अंतर्द्वन्द्व के संदर्भ को और अधिक सार्थक सिद्ध करता है, क्योंकि हाथ या पैर पर ग्रैंगीन के फोड़े के उग आने पर उस अंग को काटकर मरीज की रक्षा की जा सकती है, जबकि मालती के लिए अंतर्द्वन्द्व रूपी ग्रैंगीन का कोई उपचार कहानी में नहीं है।

इस प्रकार स्वतंत्रता पूर्ववर्ती कहानी साहित्य में भी अतीत की सामंतवादी जीवन शैली से लेकर मनोवैज्ञानिक विष्लेषण तक के विविध संदर्भों में लेखकों ने नारी के आंतरिक संघर्ष को चित्रित किया है।

आत्मघात से लेकर अंतर्द्वन्द्व को जीवन की नियति मानकर मौनरह जाने की प्रतिक्रियाएँ वर्णित हुई हैं जो कहानी के उन छोटे से संदर्भों में पूर्णतः सहज बन पड़ी हैं।

नाटक : नारी के मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व :

'' काव्येषु नाटकंम् रम्यम् '' कह कर संस्कृताचार्यों ने और '' नाटक जीवन की अनुकृति है'' (ड्रामा ईज इमिटषन ऑफ लाइफ) कहकर आंग्स समीक्षकों ने इस दृष्यात्मक साहित्यक विधा और जीवन के संबंध की घनिष्ठता को दृढ़ता के साथ निरूपित किया है। इस विधा की एक विषेषता यह है कि जीवन के विविध संदर्भों से जुड़े हुए पात्र अपने व्यक्तित्व को अपनी ही शैली में उद्घाटित करते हैं, पात्रों के व्यक्तित्व–निर्माण में रचयिता को हस्तक्षेप करने के अधिकाधिक अवसर नहीं मिलते हैं। विवेच्य विषय के विष्लेषणार्थ आधुनिक नाट्य साहित्य को उसकी संपूर्णता में स्थानाभाव के कारण ग्रहण करना अत्यंत कठिन होने के कारण इस अनुखण्ड में उल्लेखनीय प्रतिनिधि रचनाओं पर ही प्रकाष डाला जा रहा है।

www.ignited.in

क्योंकि नाटक साहित्य में नारी का अंतर्द्वन्द्व अलग से एक संपूर्ण शोध का विषय हो सकता है।

द्विवेदी युग को नाट्य विधा के लिए ह्रासात्मक युग ही माना जाता है क्यांकि इस युग में उच्चकोटि के साहित्यक नाटकों का प्रणयन बहुत कम ही हुआ। इसका मुख्य कारण जनता का रूझान मनोरंजन प्रधान पारसी नाट्य मंडलियों की ओर रहा। इने–गिने नाटक जो भी लिखे गए।

उनमें उपदेषात्मकता के बोझ के नीचे विषुद्ध एवं यथार्थवरक चरित्र का अंष दब–सा गया। पारसी नाट्य मंच पर नारी का जो चरित्र उभर कर आया, उसमें अयथार्थ और चौंकाने वाले तत्वों का प्राधान्य रहा इसलिए इस युग में भी नाटककारों की लेखनी नारी के अंतस के उथल–पुथल को रूपायित करने में अक्षम ही रही।

नाटक साहित्य के इतिहास में प्रसाद युग को पूर्णोत्कर्ष काल की संज्ञा दी जा सकती है, जिन्होंने महाभारत के उत्तरार्ध के कालखण्ड से लेकर बारहवीं सदी तक के गरिमामय भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक उत्थान–पतन को अपने नाट्य साहित्य का वस्तु–पक्ष बनाया। राष्ट्रीय–स्वाधीनता, प्रेम, आत्मोत्सर्ग, बाह्य एवं अंतर्द्वन्द्व, नियतिवाद, प्रकृति के वैविध्यपूर्ण रूप ये सब प्रसाद के अत्यंत प्रिय विषय हैं, जो उनके नाट्य साहित्य को सुगुढ़ आधार प्रस्तुत करते हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में परिवेष के अनुरूप समस्त संभवनीय नारी चरित्रों का निर्माण बड़ी सजीवता के साथ किया है, जहाँ उनके नाटकों में हमें मालविका जैसी कुसुम कोमल कमनीय नारी लक्षित होती है।

वहीं क्रूरता और विद्रुपता की प्रतिमूर्ति छलना भी। प्रसाद के नाटकों में पुरूष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों को प्राप्त महत्व को देखते हुए ऐसा कहा जाता है कि प्रसाद जी के पुरूष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्र अधिक सफल और सज्जन तथा सजीव है। नाटक के सूत्र उनके द्वारा ही यथार्थ नाटकत्व ग्रहण करते हैं वे पुरूष पात्रों को मन चाहा नाच–नचाती है। प्रसाद जी के नाटक स्त्रीत्व प्रधान हैं।'' '' चन्द्रगुप्त '' को छोड़ कर शेष के लिए यह कथन ठीक है। जो तेज '' अजातषत्रु '' की छलना में और मल्लिका में है।

'' राज्य श्री '' की राज्य श्री में है, '' स्कन्दगुप्त '' की अनन्तदेवी, देवसेना और विजया में है, वह पुरूषों में नहीं मिलता। पुरूष हारे–हारे से और व्यग्र से लगते हैं। कुछ नाटकों का तो मूल–संघर्ष स्त्री–प्रतिस्पर्धा में ही है।''[1] स्पष्ट है कि प्रसाद ने नारी के आदर्षपूर्ण रूप चित्रण को ही उनके चरित्र निर्माण का आधार नहीं बनाया, प्रत्युत उनके जीवन में भी बड़ी–बड़ी समस्याओं और संघर्ष की स्थितियों को उत्पन्न कर उनके संयम और शक्ति का भी जीवंत परिचय दिया है। प्रसाद के नारी पात्रों में विद्यमान इस संघर्षी चेतना के बार में डॉ. प्रेमलता अग्रवाल का कथन है प्रसाद जी के नायिकाओं में संकल्प शक्ति उच्चतम विकसित रूप में विद्यमान है। उनकी नायिकायें अत्यधिक भावुक एवं कल्पनाशील है। उनमें तीव्र जिज्ञासा एवं रहस्य विद्यमान है। वे जटिल एवं गम्भीर हैं।

उनमें बाहय एवं आंतरिक अंतर्द्वन्द्व विद्यमान है जिससे जूझती हुई वे अपना स्वतंत्र मार्ग चयन करती है।''[1] कहना न होगा कि प्रसाद ने अंतर्द्वन्द्व को अपने नाटकों के नारी पात्रों के व्यक्तित्व का एक अनिवार्य अंग सा बना दिया। उनके नारी पात्रों में विवेच्य विषय मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व प्रकारान्तर से प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व के रूप में ही चित्रित हुआ है। यहाँ उनके नाटकों में द्वन्द्वग्रस्त नारी पात्रों की कतिपय उक्तियाँ प्रस्तुत की जा रहीं हैं, जो उनके आंतरिक संघर्ष को घोतित करती हैं।

प्रसाद प्रणीत नाटक '' अजातषत्रु '' की संपूर्ण कथा आंतरिक और बाह्य संघर्ष से ही परिचालित है। डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कथन है पूरा नाटक विरोधमूलक है। विरोध से ही प्रारम्भ होता है। विरोध का ही विस्तार किया गया है और अंत में भी विरोध की समाप्ति या शमन है। अंतर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व से सारा नाटक भरा है।''[2]

जब विम्बसार और वासवी अपने ही अंतःपुर में बन्दी बना दिए जाते हैं, तब वासवी अंतर्द्वन्द्व से त्रस्त होती है। एक ओर अपने पिता की ओर से प्राप्त राज्य संपत्ति के प्रति तीव्र आकर्षण और उसे पति की सेवा में समर्पित न कर सकने की विवषता, इन स्थितियों के मध्य झूलती वासवी बिंबसार से कहती है '' काषी का राज्य मुझे मेरे पिता ने आँचल में दिया है। उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिए और मगध साम्राज्य की एक कौड़ी आप न छुएँ।''[1]

नाटक '' स्कन्दगुप्त '' की देवसेना के चरित्र में भी अंतर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण हुआ है। भावुक सरल हृदया देवसेना, स्कन्दगुप्त के प्रति पूर्णतः समर्पित है, लेकिन जब देवसेना का भाई बन्धु वर्मा राष्ट्रहित की दृष्टि से स्कन्दगुप्त की अपना राज्य दे देता है, तब देवसेना स्कन्दगुप्त से विवाह सूत्र में बंधने से इनकार कर देती है, क्योंकि वह यह समझती है कि लोक में प्रचलित होगा कि उसका यह विवाह विषुद्ध प्रेम का परिणाम नहीं, अपितु राज्यदान की प्रतिक्रिया है। इस स्थिति में देवसेना का अंतर्द्वन्द्व अत्यंत सहज है। वह अपने प्रेमी की प्रतिष्ठा पर भी आँच नहीं आने देती है। उसका कथन है '' आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट क्षमा दो। इस हृदय में . . . . आह। कहना ही पड़ा। स्कन्द को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए। उसे कामना के भँवर में फँसाकर कतुर्षित न कीजिए। नाथ मैं आपकी ही हूँ ? मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले में कुछ नहीं चाहती।''[1]

प्रसाद के एक अन्य नाटक '' चन्द्रगुप्त '' की नारी पात्रियों में मालविका और कल्याणी ऐसी नारियाँ हैं, जिनके जीवन में उनका प्रेम सफल नहीं हो पाया। मालविका में कर्तव्य और कल्याणी में पर्वतेष्वर के प्रति उसका प्रतिषोध इन दोनों पात्रों का अंतर्द्वन्द्व के भंवर में डाल देता है।

मगध सम्राट नन्द की पुत्री कल्याणी, चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है, परन्तु नृझंस नन्द के शासन में राजकीय परिदृष्य कुछ ऐसा बदल जाता है कि चन्द्रगुप्त नन्द का विरोधी हो जाता है। कल्याणी अपने प्रेम–पथ में सालनेवाल इन राजकीय कंटकों के दुःख को मौन सहती रह जाती है। पर्वतेष्वर द्वारा उसे शुद्ध कन्या कहे जाने पर वह आवेष में उससे प्रतिषोध लेने का प्रण भी करती है, परन्तु उसमें भी वह विफल होती है।

मगध पतन के उपरांत अपने ही अंतःपुर में बन्दिनी कल्याणी अपने अंतर्द्वन्द्व को इस प्रकार स्वर देती है मेरे जीवन के दो स्वप्न थे। दुर्दिन के बाद आकाष के नक्षत्र विलास–सी चन्द्रगुप्त की छवि, और पर्वतेष्वर से प्रतिषोध, किन्तु मगध की राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बन्दिनी है। मैं वही तो हूँ– जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था। वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया, अधिकार और मनुष्य

का मानदण्ड ऐष्वर्य। अब तुलना में सबसे छोटी हूँ। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है। (सिर झुका लेती है) तो जब नन्द वंष का कोई न रहा, तब एक राजकुमारी बचकर क्या करेगी ?''

सारी के पुनर्विवाह को सुदृढ़ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रामाणिक सिद्ध करते हुए, इस संदर्भ में नारी के आंतरिक संघर्ष और उसके विद्रोही चेतना को प्रसाद ने अपने नाटक ''ध्रुवस्वामिनी '' में बड़ा ही जीवंत–रूप प्रदान किया है। ध्रुवस्वामिनी का विवाह उसकी इच्छा के विरूद्ध रामगुप्त से कर दिया जाता है जबकि वह चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है। इस अनिच्छित विवाह के कारण वह सदा कुंठित ही रहती है, साथ–ही–साथ रामगुप्त उसके प्रति बड़ा दुर्व्यवहार भी करता है। वह ध्रुवस्वामिनी को अपने शत्रु शंकराज को भेंट स्वरूप दे देना चाहता है, लेकिन ध्रुवस्वामिनी की तर्कबुद्धि इसका तीव्र विरोध करती है। ध्रुवस्वामिनी कहती है '' पुरूषों ने स्त्रियों को अपनी पशु–संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का जो अभ्यास बना दिया है वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।''

अपने विरोध को क्रियान्वित न कर सकने की स्थिति में संघर्ष ले जूझती ध्रुवस्वामिनी जीवन से समझौता कर लेने के प्रयास में रामगुप्त से कहती है '' मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। मैं स्वीकार करती हूँ कि आज तक मैं तुम्हारे विलास की सहचरी नहीं हुई, किन्तु वह मेरा अहंकार चूर्ण हो गया है। मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और संपत्ति रहने पर राजा को–पुरूष को बहुत–सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।''[1]

इस प्रकार नारी चित्रण के प्रसंग में समस्त संभावनाओं को साकार करते हुए प्रसाद ने अंतर्द्वन्द्व को भी व्यक्ति–चरित्र का एक अनिवार्य तत्व माना है। उनके नाटकों में नारी पात्रों के अंतर्द्वन्द्व की प्रतिक्रियाएँ संदर्भ के अनुरूप ही परिणत हुई है, यथा मागन्धी का बौद्ध–धर्म में प्रवर्तन, देवसेना का अविवाहित रह जाना, कल्याणी का आत्मघात और ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त के साथ पुनर्विवाह। इन प्रतिक्रियाओं में कहीं अस्मिता का बोध है, तो कहीं जीवन के प्रति समझौता परक दृष्टिकोण. . कहीं निराषा है, तो कहीं विद्रोह, जो भी हो अयथार्थ कुछ भी नहीं है।

मार्कण्डेय पुराण के प्रसिद्ध कथानक के आधार पर गोविन्द वल्लभ पंत ने नाटक '' वरमाल '' का प्रणयन किया, जिसमें नायिका वैषालिनी का अंतर्द्वन्द्व उल्लेखनीय है। नारी के लिए विषुद्ध–प्रेम जितना सहज है, अहं उतना ही कृत्रिम। इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के असफल प्रयत्न का परिणाम ही वैषालिनी का आंतरिक संघर्ष है।

मस्तिष्क की अहंवादी प्रवृत्ति के प्रभाव के कारण वैषालिनी, राजकुमार अवीक्षित के प्रेम को तिरस्कृत करती है लेकिन अवीक्षित जब वैषालिनी का अपहरण करता है, तब निहत्थे राजकुमार पर वैषालिनी के पिता और सैनिक टूट पड़ते हैं। वैषालिनी का नारी हृदय प्रेमाभिभूत हो राजकुमार को शस्त्र देने के लिए उसे विवष करता है। अवीक्षित द्वारा राक्षस के पंजे से छुड़वाए जाने के बाद वैषालिनी का अहं चूर हो जाता है और वह द्वन्द्वयुक्त हो जाती है।

चन्द्रगुप्त विधालंकार के नाटक '' रेवा '' में लेखक ने प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष को ही नायिका के अंतर्द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक की नायिका रेवा है, जिसे उसके गुरूदेव आदेष देते हैं कि वह उसके लिए आने वाले किसी विदेषी राजकुमार के साथ ही विवाह करे। राजकुमारी रेवा आषाद्वीप की आसिका होने के कारण उसके साथ विवाह करने के लिए कई राजकुमार आते हैं और रेवा द्वारा ठुकराए जाते हैं। अन्ततः जब काम्भोज देष का युवराज यषोवर्मा आषाद्वीप में पदार्पण करता है, तो रेवा का हृदय सप्रेम उसे समर्पित हो जाता है।

चन्द्रराज भंडारी '' विषारद '' द्वारा सन् 1922 ई. में प्रणीत नाटक '' सिद्धार्थ कुमार या महात्मा बुद्ध '' में प्रमुख नारी पात्र यषोधरा है, जिसे एक आदर्ष नारी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु नाटककार ने सिद्धार्थ को उसके महाभिनिष्क्रमण पर पत्नि यषोधरा द्वारा सहर्ष विदायी दिलवाया है। लेकिन पंद्रह वर्षो के उपरांत जब सिद्धार्थ बुद्ध बनकर लौटता है तब यषोधरा के अतीत का त्याग का वह आदर्ष अंतर्द्वन्द्व के तूफान में डग–मगा जाता है। उसका हृदय पति के पास उसे जाने के लिए उत्साहित करता है, परन्तु क्षत्रियवंषजा यषोधरा का शाही मस्तिष्क उसे टोकता है। इसी द्वन्द्व में यषोधरा कहती है '' मैं क्यों जाऊँ ? मेरे स्वामी आये हैं तो वे अवष्य यहाँ मुझसे मिलने को आयेंगे। यदि मेरे प्रेम में कुछ भी आकर्षण है, यदि उसमें कुछ भी सत्यता है, तो वे अवष्य यहाँ खिचे हुए चले आयेंगे। चाहे वे बुद्ध हों चाहे संसार के पूजनीय हों, पर यषोधरा के तो वही सिद्धार्थ हैं। (दृढ़ता से) मैं न जाऊँगी।''[1] इस बिन्दु पर मस्तिष्क का तात्कालिक विजय होता है और यषोधरा पति के दर्षनार्थ नहीं जाती है, लेकिन भगवान बुद्ध के द्वार पर आते ही यषोधरा के हृदय में जो भाव–धारा उमड़ती है, उसमें उसका द्वन्द्व बह जाता है और वह सहर्ष तथागत के चरणों में पुत्र राहुल को समर्पित कर देती है।

मिश्रजी का एक अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक '' गरूडध्वज '' है, जिसकी कथावस्तु की पृष्ठभूमि ईसा पूर्व की आरंभिक शताब्दियों से जुड़ी हुई है। इस नाटक की प्रमुख नारी पात्र वासंती है, जो काषी नरेष की पुत्री है। काषी नरेष अभिधर्म के अनुयायी होने के कारण वासंती का विवाह भी किसी बौद्ध राजकुमार से करना चाहते हैं, परन्तु ऐसे वर के न मिलने पर वे वासंती का वाग्दान यवन राजकुमार शाकल से कर देते हैं। सरल–हृदया वासंती में तर्क और बौद्धिकता की भी कोई कमी नहीं है। वह जातिगत भेद–भावनाओं को मानवसृष्टि ही मानती है। युवराज शाकल की हत्या हो जाने पर वासंती का नारी सहज प्रेमी–हृदय व्यथित हो उठता है। आचार्य जब उसे किसी राजकुमार का वरण करने की सलाह देते हैं, तब वह द्वन्द्व–ग्रस्त होती है। उसका हृदय चाहता है कि उसका पति चाहे कोई भी क्यों न हो, परन्तु उसकी (वासंती) स्वीकृति उसके संपूर्ण अतीत के साथ होनी चाहिए और उसका तर्क जवाब दे देता है कि ऐसा नितांत असंभव है। जब वासंती को मलयवती और विक्रमषील के पारस्परिक प्रेम का बोध होता है, तब वासंती में नारी सहज यौन कुंठा उन्मीलित होती है। वह अनुभव करती है कि उसमें विक्रमषील के प्रति दैहिक धरातल पर अतृप्त प्रेम–भावना है। अपने आंतरिक द्वन्द्व से मुक्ति हेतु वह तर्क का सहारा लेना चाहती है। वह कहती है'' उसे दिन तुम्हीं ने कहा था, एक वृक्ष के सहारे कई लतायें खड़ी रह सकती हैं, और जिस बन में एक ही पेड़ हो और लतायें कई हों वहाँ क्या होगा।''

इस बिन्दु पर पहुँचकर वासंती अपने पति द्वारा अपने अतीत की स्वीकृति की बात भुला देती है लेकिन नाटककार ने कालिदास के साथ वासंती का विवाह कराकर उसकी आंतरिक समस्या का हल दूसरे ही ढंग से प्रस्तुत किया है।

मिश्र जी के नाटकों की वस्तु चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, उन्होंने समय की माँग और प्रभाव के अनुरूप ही अपने नारी चरित्रों के व्यक्तित्वों को विकसित किया है।" सन्यासी " नाटक की भूमिका में इसी बात उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि उन्होंने नाटक के पात्रों को इस तरह स्वच्छंद छोड़ दिया है कि अपने उत्थान और पतन के लिए वे पात्र स्वंय बाध्य है। मिश्र जी के नारी पात्रों में भाउकता और बौद्धिकता के समन्वय और संघर्ष अत्यंत सहज रूप में चित्रित हुए हैं। इस संदर्भ में डॉ. ब.ल. कोतमिरे का कथन उल्लेखनीय है " इनके अधिकांष नाटक चिरन्तन नारीत्व की समस्या से संबंधित हैं। इनके समस्या नाटकों के नारी मात्र वर्तमान षिक्षा प्रणाली से प्रभावित हैं और पाष्चात्य जीवन पद्धति का अनुकरण करने की प्रवृत्ति उनमें दिखाई पड़ती है इसलिये प्रेम, विवाह, पाप–पुण्य आदि के बारे में उनका सोचने का दृष्टिकोण भारतीय होकर भी पाष्चात्य पद्धति का अनुकरण करता हुआ दिखाई पड़ता है।"[1]

अपराजिता अपने माता–पिता के निर्णय का विरोध न करने की स्थिति में अपने ही विधुर–जीजा प्राणनाथ के साथ विवाह–सूत्र में बंधने के लिए विवष होती है इसके लिए उसे अपने प्रेमी दिलीप को भी त्यागना पड़ता है।

परन्तु वह अपने वैवाहिक जीवन में सुख का अनुभव प्राप्त नहीं कर पाती है। विवाह के आठ वर्षों के उपरांत भी उनके हृदय में दिलीप के मादक प्रेम की लालसा यथावत है। पति के प्रति बुझा–बुझा व्यवहार और बच्चों के प्रति उसकी खीज उसकी आंतरिक छट–पटाहट के प्रतीक है। दिलीप से उसके कथन में उसकी यह छट–पटाहट यूँ अभिव्यंजित होती है। " मुझे कभी–कभी ऐसा लगता है जैसे यह अखनूर मेरा काला पानी है और मैं यहाँ आजीवन बंदी बना दी गयी हूँ।"[1] अपराजिता की अंतष्चेतना में अपने वैवाहिक जीवन को कैद मानने की भावना गुँफित है, जो किसी भी स्थिति में मुक्ति की अपेक्षा नहीं कर पाती है। इसी भावना को अभिव्यक्त करते हुए उसका दिलीप से कहना है " किंगकांग . . (मुस्काती है) तुम्हें याद है न हम एक बार किंगकांग की फिल्म देखने गए थे। मैं उस लड़की को नहीं भूल सकी जिसे किंगकांग उठा ले गया था। (दीर्घ निःष्वास लेती है) वह मुक्त हो गई थी। पर मैं "[2] अपराजिता का द्वन्द्व जीवन से समझौता कर लेने की बिन्दु पर समाप्त होता है। इसी समझौता को वह अपने दांपत्य जीवन की चरम परिणति मानते हुए सांकेतिकता भरे शब्दों में कहती है " किंगकांग से कब का समझौता कर लिया है।"[3] अपराजिता की यह समझौता वादिता की पृष्ठभूमि में उसकी आर्थिक परवषता और माता–पिता के निर्णय के प्रति पर झुका देने वाली भारतीय कन्या की परम्परागत विवषता प्रतिकृत है।

नाटक साहित्य में सेठ गोविन्द दास का एक अप्रतिम स्थान है, जिन्होंने पुराण, इतिहास, समाज, राजनीति आदि क्षेत्रों से अपने नाटकों का वस्तु–चयन किया है। महाभारत की एक प्रसिद्ध घटना के आधार पर उन्होंने नाटक " कर्ण " का प्रणयन किया, जिसकी प्रमुख नारी पात्री कुंती के चरित्र में घटनाओं के अनुरूप आंतरिक द्वन्द्व की योजना अत्यंत प्रभावपूर्ण बन पड़ी है।

कुंती जब अर्जुन और कर्ण की प्रतिद्वन्द्विता को देखती है, तो उसका मातृ हृदय विह्वल हो जाता है और वह कर्ण को उसका जन्म–वृत्तांत बता देना चाहती है, परन्तु उसका तर्क उसे समाज का भय दिखलाता है। सामायिक अंधरूढ़ियों का विरोध करना चाहती हुई भी कुंती द्वन्द्व ग्रस्त हो मौन रह जाती है। उसका कथन है " अभी भी सच्चा रहस्य प्रगट करूँ पर समाज . . . समाज क्या कहेगा ?"

स्वातंत्र्योत्तर काल–खण्ड में प्रणीत उपन्यास, कहानी और नाटक साहित्य से संबंद्ध उक्त प्रतिनिधि रचनाओं के वष्लेषण से ज्ञात होता है कि उन रचनाओं में वर्णित नारी–पात्रों के मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व के कारणों में सामाजिक पक्ष का प्रभाव ही अधिक रहा है। सामाजिक विषयों पर आधारित रचनाओं में प्रेम जहाँ विवाह और दहेज संबंधी समस्याओं में उलझकर जहाँ द्वन्द्व का कारण बना वही प्रेम के एक–आध रचनाओं में दांपत्येत्तर संबंधों में भी पड़कर कहीं–कहीं वासनात्मक रूप धारण कर गया। ऐतिहासिक रचनाओं में वर्णित अंतर–द्वन्द्व के मूल में कहीं वैयक्तिक प्रतिष्ठा और अस्मिता का प्रश्न है, तो कहीं राष्ट्रीय हित से संबंद्ध अंश।

प्रसाद, लक्ष्मीनाराण मिश्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय जैसे साहित्यकारों ने तो अंतर्द्वन्द्व को अपनी रचनाओं का आधार तक बना दिया। आधुनिक सभ्यता के विस्तृत समाजीकरण की अनुपस्थिति में तत्कालीन साहित्यक विधाओं में अंतर–द्वन्द्व के वे रूप, प्रतिक्रियायें और परिणाम लक्षित नहीं होते हैं, जो संप्रति कालीन साहित्य में दीख पड़ते हैं। आगामी अध्यायों में विवेच्य विषय के अनुरूप विविध प्रवृत्तियों से संबंध प्रतिनिधि उपन्यासों में वर्णित नारी के मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व का गहन विष्लेषण प्रस्तुत किया गया है, साथ ही साथ लेखिकाओं के अंतर्द्वन्द्व चित्रण संबंधी विलक्षणताओं को भी अलग अध्याय में रेखांकित करने का उपक्रम किया गया है।

परिशिष्ट –

1. सितारों के खेल – उपेन्द्रनाथ अश्क – नीलाभ गृह प्रकाशन, त्याग – सं. 1940

2. पर्दे की रानी – इलाचन्द्र जोशी – भारती भंडार, इलाहाबाद – सं. 1941

3. चढ़ती धूप – रामेश्वर शुल्क "अंचल" – हिन्दुस्तानी प्रकाशन, इलाहाबाद

– सं. 1945

4. दिव्या – यशपाल – सं. 1945

5. बूँद और समुद्र – अमृतलाल नागर – किताब महल, इलाहाबाद – सं. 1947

6. अचल मेरा कोई – वृंदावन लाल वर्मा – सं. 1948

7. सीधे–सादे रास्ते – डॉ. रांगेय राघव – सं. 1949

8. पथ की खोज – डॉ. देवराज – बुद्धिवादी प्रकाशन, लखनऊ – 1, सं. 1951

9. सोमनाथ – आचार्य चतुरसेन – सं. 1954

10. बगुला के पंख – आचार्य चतुरसेन – सं. 1958

www.ignited.in

11. अजय की डायरी – डॉ. देवराज – राजपाल एण्ड सन्स – सं. 1960

12. पचपन खम्बे लाल दीवारें – ऊषा प्रियंवदा – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

– सं. 1961

13. आखिरी आवाज – डॉ. रांगेय राघव – सं. 1962

14. आत्मदाह – आचार्य चतुरसेन – जयप्रकाश, वारणासी–1, – सं. 1963

15. नीलमणि – आचार्य चतुरसेन – जय प्रकाशन, वारणासी–1,

प्र.सं. 1941, सं. 1963